

भारतीय साहित्य में विमुक्त और घुमंतू जनजातियों पर आधारित उपन्यासों का अध्ययन

प्रा. कु. सुषमा बाळाराम खोत

भाऊसाहेब नेने कला, विज्ञान, वाणिज्य महाविद्यालय,
पेण-रायगड।

मोबाईल नंबर- ७२७६८९७३६४

ई-मेल - khotsushma882@gmail.com

सारांश

जनजातियाँ हमारे देश का अभिन्न अंग है उनके विकास से ही इस देश का संपूर्ण विकास संभव है। विकास के क्रम में समाज का यह महत्वपूर्ण हिस्सा मुख्यधारा से कटा हुआ है। एक ही देश, एक ही राज्य में केवल कुछ मीलों, की दूरी पर रहनेवाली ये जनजातियाँ विकास की दृष्टि से मुख्य समाज से कई सदियों पीछे है। इतिहास गवाह है कि, साहित्य के प्रसिद्ध लोक जागरण बुद्ध काल, भक्ति आंदोलन व स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन के सारथी दलित, वंचित आर हाशिए का समाज से थे किन्तु उन्हें बिसरा दिया गया। इसी प्रकार का वंचित समाज है, घूमंतू, खानाबदोश जनजातियाँ, जो योद्धा/ लडाकू प्रवृत्ति के कारण कभी अंग्रेजी राज में अपराधी घोषित हुए, तो कभी अपनी ही सरकार के द्वारा 'हैबिचुअल ऑफेंडर' यानी 'आदतन अपराधी' घोषित हुए।

बीज शब्द : हैबिचुअल ऑफेंडर, दलित, वंचित और हाशिए

प्रास्ताविक :

भारत को आजाद हुए ७५ वर्ष हो चुके हैं, किन्तु कुछ समाज ऐसे हैं जो आज अपनी आजादी की लडाई लड रहे है और उनकी ये लडाई आजादी की लडाई से इस मायने में ज्यादा गंभीर और चुनौतीपूर्ण है कि गैरों से लडना तो आसान है, किन्तु अपनों से लडना महाभारत के जैसा है। ये समाज आज भी उसी जाल में फँसे हुए हैं जो अंग्रेजो ने १८७९ में इनके लिए बना था। ब्रिटिश सरकार ने उस समय एक कानून बनाया था 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट', इस कानून के अंतर्गत १९९ आदिवासी और घुमंतू समाजों को जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया था।

शायर असराल -उल- हक मजाजइन विमुक्त- घुमंतू जनजातियों का दर्द बयाँ करते हैं-

बस्ती से थोड़ी दूर, चट्टानों के दरमियाँ

ठहरा हुआ हैं, खानाबदोशों का कारवाँ

उनकी कहीं जमीन, न उनका कहीं मकाँ

फिरते हैं यू ही शामों -सहर जैसे आसमाँ

घुमंतू का शाब्दिक अर्थ है, 'घुमक्कड' जो बिना कारण इधर - उधर घूमे अथवा जब कोई शौक से, अनुभव लेने को, ज्ञान प्राप्ति हेतु यात्राएँ करता है, जिसके लिए खूब पैसा और समय चाहिए। एक शब्द जनजाति विशेषण के साथ चेतना से टकराता है - घुमंतू जनजातियाँ यानी वे विशेष जाति जिनका कोई स्थायी निवास नहीं होता और आजीविका की तलाश में वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते हैं और घूमना इनका शौक नहीं विवशता है।

घुमंतू ऐसे लोग होते हैं जो किसी एक जगह टिककर नहीं रहते बल्कि रोजी - रोटी की तलाश में यहाँ से वहाँ घूमते रहते है। देश के कई हिस्सों में हम घूमंतूओं को अपने जानवरों के साथ आते - जाते देख सकते हैं।

घुमंतू जनजातियाँ :-

आज हमारे देश में घुमंतू अर्ध- घुमंतू, विमुक्त जनजातियों में लगभग ८४० जातियाँ है, जिनमें भारतीय समाज का सर्वाधिक उपेक्षित और पिछडा वर्ग है - कालबेलिये, नट, भांड, पारधी, बहुरूपिए, सपेरे, मदारी, कलंदर, बहेलिए, भवैया, बंजारे, गुज्जर गाडिया, लुहार, सिकलीगर, बेडिया, नायक, कंजर, पेरना, सिंगीवाल, तेली, कोली, साँसी, ओड, सथाल, बैरागी, भाटू, सनोरिया, हाबुडा, मोधिया, कंजर, आदि।

घुमंतू जनजातियों का सिर्फ जीवन ही नहीं बल्कि उनकी मौत भी आज बेहद किठन हो चुकी है। भंवर मेघवंशी कहते हैं- “इन जनजातियों में कुछ ऐसी भी हैं जो मृत शरीर को जलाती नहीं बल्कि दफनाती हैं, लेकिन इन लोगों की कोई भी संप्रदाय अपने कब्रिस्तान में दफनाने की जगह नहीं देता। ऐसे भी कई मामले हो चुके हैं जब इन लोगों ने किसी खाली जमीन में अपने परिजन की लाश दफनाई लेकिन गाँव के लोगों ने खुदवाकर वह लाश इन्हें सौंप दी।” भीलवाड़ा में ‘कालबेलिया’ समुदाय के कई ऐसे परिवार हैं जिन्हें कहीं जगह न मिलने पर अपने परिजनों को अपने घरों के अंदर ही दफन करना पड़ा है।

कभी सड़क किनारे लोहा पीटते, कभी गाँव- कस्बों में जानवर हाँकते, कभी हनुमान -शंकर बनकर पैसे माँगते, कभी जडी- बूटी बेचते, कभी बंदरो को नचाते और कभी खुद सड़क के किनारे नाचते हुए लोग जो अक्सर दिखाई पड़ते हैं, उनके भी कोई मौलिक- संवैधानिक अधिकार होते होंगे, इस पर कम ही लोगों का ध्यान जाता है समाज में इनकी चर्चा अक्सर सिर्फ तब ही होती है जब अखबार बताते हैं किसी ‘बाबरिया गिरोह’ ‘कंजर गिरोह’ या ऐसे किसी अन्य जनजातीय ‘गिरोह’ ने कोई जघन्य अपराध किया है तब इनकी पूरी जनजाति समाज के निशाने पर होती है और इनके प्रति समाज में मौजूद दुर्भावनाएँ कुछ और मजबूत हो जाती है इन लोगों के संवैधानिक, न्यायिक, सामाजिक या नागरिक अधिकार तो दूर मूलभूत अधिकार और सामान्य अधिकार भी नसीब नहीं होते।

साहित्य -

साहित्य मानवीय भावों के अनुभूति की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। मानव के साथ साहित्य आदिम काल से जुड़ा है। मनुष्य के मन में भावनाएँ समयानुसार जागृत होती हैं और इन भावनाएँ जब शब्द में लिपिबद्ध होती हैं, तब साहित्य की निर्मिति होती है। साहित्य का मूल उद्देश्य मानवीय समस्याओं का समाधान खोजना होता है।

साहित्य के विभिन्न अंगों में उपन्यास, अत्यंत लोकप्रिय एवं प्रचलित अंग है। उत्तर आधुनिककाल में अस्मिताओं की टकराहट से नए- नए विमर्श उभर कर आए। दलित, स्त्री, आदिवासी, किन्नर, विकलांग आदि विमर्श। विमुक्त -घुमंतू जनजातियाँ जो निम्नस्तर कोटि का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी इनके उत्थान हेतु अथवा इस समुदायों की चेतना जागृत करने के लिए कोई साहित्यिक विमर्श या आंदोलन अथवा पहले किसी की तरफ से क्यों न हो सकी ? विमर्शों की मूल शब्दावली अस्तित्व, अस्मिता सशक्तिकरण, विद्रोह, मान- सम्मान जैसे शब्दों की मूल संकल्पना से ही अभी यें कौंसो दूर है।

हिंदी साहित्य के उपन्यासों में विमुक्त और घुमंतू जनजातियाँ-

हिंदी साहित्य में विमुक्त समुदाय को आधार बनाकर निम्नलिखित उपन्यास इस शोषित समाज के जीवन का दर्दनाक नग्न यथार्थ हमारे समक्ष रखते हैं। ‘कब तक पुकारूं’, ‘धरती मेरा घर’, ‘सागर लहरों और मनुष्य’, ‘कचनार’, ‘पिंजरे में पन्ना’, ‘अल्मा कबूतरी’, ‘रेत’, ‘पिछले पन्ने की औरतें’, ‘पहाड़ी जीव’, ‘जंगल के दावेदार’, ‘शैलूष’, ‘भूख’, ‘सांप और सीढी’, ‘बनवासी’, ‘जंगल जहां शुरू होता है’, बनतरी आदि।

धरती मेरा घर

रांगेय राघव हिंदी के उन प्रतिभाशाली लेखकों में से हैं जिन्होंने साहित्य के विविध अंगों की समृद्धि के लिए अपनी कुशल लेखनी से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन किया। ‘धरती मेरा घर’ हिन्दी के विशिष्ट और बहुमुखी प्रतिभा वाले प्रसिद्ध उपन्यासकार और साहित्यकार रांगेय राघव द्वारा रचित उपन्यास है। ‘धरती मेरा घर’ नामक उपन्यास स्वयं को महाराणा प्रताप का वंशज मानने वाले गाडिये-लुहारों के जीवन चरित्र पर आधारित है। गाडिया-लोहार जनजाति के ऐसे लोग इस समुदाय के लोग हमेशा यात्रा करते रहते हैं। यह समुदाय मूल रूप से राजस्थान से होता है। इनकी सजी हुई गाडी से पहचाना जा सकता है। यही गाडी इनका घर भी होती है और एक जगह से दूसरी जगह जाने का जरिया भी। आज के प्रगतिशील युग में गाडिये-लुहार आधुनिकता से कौंसो दूर अपने ही सिध्दान्तों, आदर्शों और जीवन- मुल्यों पर चलते हैं। कभी घर बनाकर न रहने वाले, खानाबदोशों की तरह जीवन-यापन करने वाले और समाज से अलग रहने वाले इन गाडिये-लुहारों के जीवन के अनछुए और अनदेखे पहलुओं का जैसा

सजीव वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। इस उपन्यास में राजस्थान के जनजीवन की कलात्मक झलक प्रस्तुत करता है। राजस्थान की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लेखक के संवेदनशील मस्तिष्क ने अनेक कलात्मक कथानकों का सृजन किया है।

सागर लहरें और मनुष्य

‘उदय शंकर भट्ट’ रचित ‘सागर लहरें और मनुष्य’ का ‘बरसोवा’ के तटपर बसे कोली कहे जाने मछुआरों का पिछड़ा समाज है बरसोवा का असली नाम ‘बिसावा’ है, यह समुद्र तट के पूर्व-पश्चिम में मछलीमारों की बसती है कुछ पक्के मकान हैं, लेकिन अधिकतर कच्चे और छप्पर वाले।

प्रत्येक आँचलिक उपन्यास की तरह स्थानीय जिंदगी का स्वरूप बनाने वाले पात्रों का एक हुजूम है। यहाँ भी पुरानी जड़ता और स्थितीशीलता को धारण करनेवाले ‘विठ्ठल’ और ‘वंशी’ आधुनिक शहरीपन की ओर आकर्षित उनकी बेटी ‘रत्ना’ कृत्रिम आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करना मिथ्याचारी और गैर ईमानदार ‘माणिक’, उसके विरुद्ध अनपढ़, गँवार लेकिन इमानदार और प्रामाणिक यशवंत।

वस्तुतः इस उपन्यास में स्थान और काल के संघर्ष से आँचलिकता वहीं प्रतिफलित होती है जहाँ रत्ना अपनी भौतिक महत्वाकांक्षा की शिकार होकर जीवन की जटिल स्थितियों का सामना करने को फेंक दी जाती है। शिक्षा से उपलब्ध उसकी थोड़ी बहुत चेतना माणिक से विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न हुए संघर्ष के दौरान उसके व्यक्तित्व का यह विकास करती है। उसके व्यक्तित्व का यह विकास आर्थिक, आत्मनिर्भरता के लिए संघर्ष और रूढ़ियों से उसकी स्वाधीनता बरसोवा से संबंध उसके अतीत की जड़ता को तोड़ती है। उसका पुराना प्रेमी और मंगेतर ‘यशवंत’ सामाजिक स्तर पर अपना व्यक्तित्व विकसित करता है, शिक्षा और संवेदनशीलता के द्वारा। उपन्यास का वस्तु संगठन और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक प्रसंग बरसोवा और मुंबई की टकराहटों में रूप ग्रहण करते हैं।

विवाह के बाद माणिक द्वारा किए अपने शोषण को सहती हुई रत्ना विद्रोह और समझौते के बीच काफी समय जीती है। माणिक से उसका अलगाव और बरसोवा में मछलीमार सहकारी समिति की स्थापना ये दो महत्वपूर्ण सामाजिक प्रसंग हैं, जिनके भीतर लेखक मानवीय स्थितियों और संभावनाओं को ढूँढता (एक्सप्लोर) है। इस प्रकार यशवंत और रत्ना दोनों अपने-अपने ढंगसे इतिहास की चेतना धारण करते हैं और उसे बरसोवा के भूगोल से जोड़ते हैं- “मैं बरसोवा नहीं जाऊँगी अपने पैरों पर खड़ी होऊँगी चाहे कितना भी दुःख मुझे झेलना पड़े... मैं संघर्ष करूँगी मैं देखना चाहती हूँ, मैं क्या कर सकती हूँ?”

इसी प्रकार यशवंत के नेतृत्व में वकील पटवर्धन की प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण है पटवर्धन ने देखा कोली जाति के लोग अब जवाब भी देने लगे हैं।

अल्मा कबूतरी

मैत्रेयी पुष्पा महिला उपन्यासकारों में एक सशक्त हस्ताक्षर है। उन्होंने ‘अल्मा कबूतरी’ उपन्यास में ‘कबूतरा’ जनजाति को दृष्टि में रखकर ३९० पृष्ठों में यह उपन्यास लिखा। आदिवासी केंद्रित उपन्यासों में यह उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है। यह उपन्यास १८ अध्यायों में निम्न है। उपन्यास का परिप्रेक्ष्य बुदेलखंड क्षेत्र के कबूतरा नामक आदिवासी समाज है। उपन्यास में दो समाज वर्णित हैं। एक आदिवासी कबूतरा समाज तो दूसरा ‘सभ्य समाज’ जिसे आदिवासी कबूतरा ‘कज्जा’ कहते हैं। उपन्यास का प्रारंभ ‘मंसाराम’ माते और आदिवासी ‘कदमबाई’ के जीवन कथा से होता है। मंसाराम के पिता ५० बीघे जमीन के मालिक है। जिनमें से दो बीघे जमीन पर कबूतराओं ने डेरा डाल रखा है। पिता के असामयिक निधन के कारण मंसा पर पारिवारिक दायित्व आ जाता है। मंसाराम कदमबाई के सौंदर्य पर मोहित हो जाता है, परंतु दोनों विवाहित हैं कदमबाई के पति की हत्या हो जाने के बाद मंसाराम और कदमबाई एक दूसरे के प्रेमी बन जाते हैं। उन दोनों में देहिक संबंध स्थापित हो जाता है। इन सबसे मंसाराम का पुत्र ‘जोहरा’ क्रोधित होता है, और एक दिन पिता की गर्दन पकड़ लेता है। अतः मंसाराम कज्जा परिवार को छोड़कर कबूतरा बस्ती में साझीदारी में शराब की भट्टी शुरू करता है।

मंसाराम और कदमबाई के पुत्र 'राणा' को पढाई के लिए 'रामसिंह' के पास भेजा जाता है। वह रामसिंह की युवा पुत्री 'आत्मा' से प्रेम करने लगता है, परंतु डाकू बेटासिंह अल्मा को भगाकर ले जाता है। वह अपने पिता की रक्षा के लिए डाकू के जूलूमों को सहती है। इस कबूतरा आदिवासियों पर पुलिस और डाकुओं के भीतर अत्याचार होते हैं। अल्मा अपनी बिरादरी को बचाने के लिए राजनीति में प्रवेश करती है और सफल भी होती है। उसके संबंध में लेखिका कहती है- "अल्मा माने आत्मा, बप्पा ने सोच-समझकर नाम रखा था, कहते थे आत्मा नहीं मरती अपने नाम को सार्थकता प्रदान करते हुए अल्मा आजीवन संघर्ष करती है।"

उपन्यास में आदिवासी कबूतरा समाज के परिवेश नारी की स्थिति और गति राजनीतिक परिवेश के साथ धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश का चित्रण हुआ है। कबूतरा आदिवासी चोरी करना और शराब बनाकर बेचना व्यवसाय अपनाते हैं। इसका एक कारण उनकी आर्थिक दुर्बलता है। उपन्यास में इस आदिवासी समाज के आर्थिक जीवन को व्यक्त किया गया है।

‘शैलूष’

डॉ. शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' पहला पहाड़ी कबिलाआ उपन्यास रेवतीपुरा की कहानी है। 'नटों के जीवन चित्रण की महत्वाकांक्षा से लिखा गया बहुचर्चित उपन्यास है। 'जुडावन नट और ब्राम्हण सावित्री की यह प्रेम कहानी है। विजातीय विवाह, सरकार की भूमिदान नीति, नटों की कबिलाई संस्कृति, जमीन पर अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष करने वाले नट, पुलिस की तानाशाही, नटनी का आत्मरक्षा हेतु चलाना सिखना, चमार-नटों में संघर्ष होता तब आग में घी डालने का काम जमीनदारों द्वारा होना, अनशन करनेवालों, जुलूस निकालनेवालों पर पेट्रोल फेकनवाले जमींदार आदि का यथार्थ अंकन करके जनजीवन की झाँकी प्रस्तुत की है। जमीन, जंगल पर प्यार करनेवाला लालू नट कहता है 'इससे प्यार करो', अपनी माता की तरह दुलारों, सम्मान करो', यह कथन नटों की भाववृत्ति का प्रमाण है।

निष्कर्ष

जिस समाज में जाति आधारित गालियाँ बनी हो और धडल्ले से बोली भी जाती हों, घुमंतू जनजातियों के लिए अपराधिक शब्दावलियों का प्रयोग होता है तो अत्यंत अफसोस के साथ कहना पड़ेगा कि विकृत तो हमारी मानसिकता है। हाँ, हर समाज की अपनी कमजोरियाँ होती हैं, कमियाँ होती हैं ऐसे आचार व्यवहार होते हैं जिसे उसे समाज का दूसरा व्यक्ति स्वीकार नहीं करता लेकिन इस चुनौती को अगर समर्थ संपन्न समाज पढा-लिखा समाज नहीं समझेगा और उनके प्रति अपनी संवेदनाओं को नहीं जागृत करेगा तो यह समाज का हिस्सा हमेशा ही कमजोर रहेगा और हमें इस बात को ध्यान रखना चाहिए कि, शरीर का एक हिस्सा अगर कमजोर होता है तो उसका भुगतान कहीं ना कहीं पूरे शरीर को करना पड़ता है। क्यों ना समाज के इस हिस्से को समर्थ शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया जाए, यदि इन्हें शिक्षा, रोजगार, सम्मान दिया जाए तो ये क्योंकर अपराध की दुनिया में आना चाहेंगे? इसके लिए तथाकथित सभ्य, बुद्धिजीवी समाज को संवेदनशील बनना होगा, बनाना होगा और साहित्य इसका सबसे महत्वपूर्ण साधन है।

संदर्भ सूची :-

१. सागर लहरें और मनुष्य- उदयशंकर भट्ट
२. अल्मा कबूतरा- मैत्रेयी पुष्पा
३. शैलूष – डॉ. शिवप्रसाद सिंह
४. हिंदी के आँचलिक उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन – डॉ. भरत सगरे पृ. क्रमांक- ५६
५. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना – डॉ. सविता चौधरी